तेरे हो ऐसी शक्ति तेरे में भी नहीं है। समझ में आया?

दो दृष्टान्त दिये, लो। एक बहावरा और वस्त्र का, और एक बहावर और अन्य वस्तु आकर चली जाये और वर्तमान दो घण्टा रहे, दो घण्टे रहकर उठे, जाये, जागे, सोये। वैसे यह पागल जैसा मनुष्य, मिथ्यादृष्टि पागल विपरीत मान्यता में तुझे उन्माद हुआ है। उन्माद है, उन्माद। लो, यहाँ तो निमित्त की बात उड़ायी। समझ में आया? समझ में आया कुछ? उन्हें अपने आधीन मानकर यह जीव खेदखिन्न होता है। क्योंकि आत्मा पर का कुछ करने में समर्थ है नहीं। कहो, बराबर है यह? आत्मा को शरीर मिले वह शरीर के स्वभाव अनुसार शरीर करे। और वस्तु की प्राप्ति वस्तु के कारण होती है, आत्मा के कारण उसमें हो नहीं सकता। फिर भी अज्ञानी खेदखिन्न और दुःखी होता है। विशेष कहेंगे...

(श्रोता :-- प्रमाण वचन गुरुदेव!)

बुधवार, दि. १६-५-१९६२,
चौथा अधिकार, प्रवचन नं. ३

मोक्षमार्ग प्रकाशक, चौथा अध्याय है। देखो! '**अनादि काल से जीव कर्म के निमित्त से...**' जो उपाधिभाव होता है, उसको भी अपना मानता है, वह आया यहाँ। जीव और अजीव का वर्णन चलता है। देखो क्या कहते हैं? देखो! आत्मा एक पदार्थ है और शरीरादि अनंत परमाणु का पिंड है तो अनंत द्रव्य है, यह (आत्मा) एक द्रव्य है। इस जीव को ऐसी बुद्धि उठती है कि 'यह मैं हूँ'। शरीर अनंत परमाणु का पिंड, यह मैं हूँ, यह मैं हूँ ऐसी बुद्धि होती है। बराबर है? शरीर से भिन्न और पाँच इन्द्रिय के विषय से भिन्न आत्मा है। अनादि काल से इन्द्रिय से विषय देखे और आत्मा इन्द्रिय से पार है उसकी प्रतीत की नहीं। अपनी शुद्ध चैतन्यसंपदा अनादि काल से शरीरादि परमाणु में, यह मैं हूँ, यह मैं हूँ (ऐसा माना) तो आत्मा उससे भिन्न है, ऐसी खोजने की उसकी दृष्टि रहती नहीं।

'**तथा स्वयं जीव है,...**' आत्मा तो चैतन्य चैतन्यस्वरूप जीव है। उसका स्वभाव

ज्ञान, दर्शन, आनंद है। ज्ञान, दर्शन, वीर्यादि की पर्याय उसका स्वभाव है। विभाव तो क्रोध, मान, माया, राग-द्वेष भाव है। पुण्य और पाप, दया, दान, क्रोध, मान, माया, लोभ विभाव है। तो स्वभाव और विभाव दोनों को अपना मानता है। क्यों? कि ज्ञानानंद स्वभाव और विभाव, दोनों का एक काल में परिणमन है और दोनों की एक काल में उत्पत्ति होती है। और भिन्न भासने की दृष्टि तो है नहीं। अंतर्मुख मैं चैतन्य हूँ और बहिर्मुख उत्पन्न होनेवाले शुभ और अशुभ, पुण्य-पाप भाव मलिन है, ऐसी बुद्धि है नहीं, तो सब को मैं जीव हूँ, ऐसा मानता है। यह जीव-अजीव का अधिकार चलता है। समझ में आया?

देहादि की क्रिया और पुण्य-पाप का भाव, वह सब मैं हूँ। मैं चैतन्य हूँ, ऐसा पर से भिन्न तो कभी भेदज्ञान किया नहीं। पर के साथ अभेद.. अभेद.. अभेद.. शरीर मैं, वाणी मैं, कर्म मैं और पुण्य-पाप का भाव विकार और ज्ञानादि स्वभाव सब होकर मैं हूँ (ऐसा मानता है)। क्यों, दुर्गादासजी! रोग आता है तो कैसा होता है, देखो! शरीर में रोग आया तो मुझे आया, शरीर में फेरफार होता है तो मेरे में फेरफार हुआ। भगवान अपना अस्तित्व चैतन्य, विकार से और शरीर से भिन्न रखता है उसका तो पत्ता है नहीं और पत्ता मिलने का ज्ञान भी नहीं है। कहते हैं कि विभाव और ज्ञानादि स्वभाव है, उन सब को अपनी चीज मानता है। यहाँ तो जीव-अजीव अधिकार है न। वह अजीव को जीव मानता है। अथवा अपना ज्ञानानंद स्वभाव जीव है, उसको न मानकर विभावादि विकार और शरीरादि पर वही मैं हूँ, ऐसा मानता है। कहो, समझ में आया?

तथा पुद्गल परमाणु का स्वभाव--यह पुद्गल परमाणु, यह मिट्टी--शरीर, '**वर्ण, गंध, रस, स्पर्शादि स्वभाव है...**' इसका स्वभाव तो वर्ण, गंध, रस, स्पर्श है। '**उन सब को अपना स्वरूप मानता है।**' उन सब को अर्थात् ज्ञान भी मैं, वीर्य भी मैं, देखनेवाला भी मैं, पुण्य-पाप का भाव भी मैं और यह शरीर परमाणु की अवस्था भी मैं। ऐसा सब को एक अपना मानता है। उसका नाम मिथ्यादर्शन कहने में आता है। यह मिथ्यादर्शन--मिथ्याप्रतीत--मिथ्याश्रद्धा। अपने चैतन्य को विकार और पर में मानना वही मिथ्यात्व है।

'**ये मेरे हैं'--इस प्रकार उनमें ममत्वबुद्धि होती है।**' शरीरादि में ऐसा लिया कि यह मैं हूँ। और ज्ञान, विकार, शरीरादि के परमाणु की सब अवस्था वर्ण, गंध, रस, स्पर्श की वह सब मेरा है। पर से भिन्न करने का प्रयत्न करे तो कब करे? कि उसको ऐसा ख्याल में आये कि मैं चीज ही भिन्न हूँ। शरीर, वाणी, मन से भिन्न हूँ और मैं, विकार कृत्रिम एक क्षण में एक साथ ज्ञान, दर्शन की पर्याय उत्पन्न

होती है उसके साथ दया, दान का भाव उत्पन्न होता है, काल एक, परिणमन उसका फिर भी दोनों एक नहीं है। दोनों एक नहीं है। उसको जाननेवाला अथवा मलिन परिणाम पुण्य-पाप का दोनों एक नहीं है। परन्तु एक काल में उत्पन्न होते हैं और स्वभाव सन्मुख की दृष्टि है नहीं। अंतर्मुख दृष्टि है नहीं तो बहिर्मुख में अपना मानकर ज्ञान और आस्रव सब मैं ही हूँ। वह सब अजीव चीज है उसको अपनी मानता है। आस्रव का अधिकार बाद में भिन्न आयेगा, भाई! लेकिन यहाँ तो अजीव है सो अजीव है वास्तव में। पुण्य-पाप का भाव भी अजीव है, वह जीव नहीं है। और शरीर के परमाणु में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श वह जीव नहीं, परन्तु सब को वह अपना मानता है। कहो, समझ में आया? उसको अनंत काल में भिन्नता करनी आयी नहीं। क्यों करे? अपनी चीज कोई दूसरी है, विभाव क्षणिक कोई दूसरी चीज है और शरीरादि का वर्ण, गंध, स्पर्श तो बिलकुल भिन्न चीज है। ऐसा अंतर में हुए बिना उसका भेदज्ञान करने का प्रयत्न भी कहाँ-से करे? सब को एक मानता है।

'**तथा स्वयं जीव है, उसके ज्ञानादिक की...**' अब अवस्था की बात करते हैं। वह गुण पर्यंत की बात कही थी, वर्ण, गंध आदि। अब जीव के ज्ञान, दर्शन की अवस्था हीनाधिक होती है। अपने में ज्ञान, दर्शन, वीर्य की हीन-अधिक अवस्था होती है। एक बात। और क्रोध, मान, माया की अधिक-हीन अवस्था होती है। विकार भी अधिक-हीन कभी कषाय मंद, कभी तीव्र, तीव्र में भी तीव्र, तीव्रता भी असंख्य विकार तीव्र अशुभ में भी असंख्य भेद है। और शुभ कषाय के मंद में भी असंख्य भेद हैं। तो उसमें हीनाधिकता होती है। तो ज्ञान, दर्शन की हीनाधिक अवस्था भी मैं और विकारी हीनाधिक अवस्था भी मैं। समझ में आया? ऐसा मानकर अजीव को ही जीव मानता है। जीव क्या चीज है, उसकी खबर नहीं। मिथ्यादर्शन शल्य के कारण ऐसा मानता है। भारी बात भाई! सब के साथ रहना और सब से... कहते हैं न? क्या कहते हैं? मगरमच्छ के साथ रहना और...

मुमुक्षु :-- समुद्र में रहना और मगरमच्छ के साथ बैर।

उत्तर :-- उसके साथ बैर। समुद्र में रहना और मगरमच्छ के साथ बैर। कहते हैं कि आप की हिन्दी में? ऐसा कहते हैं, सब के साथ रहना और सब से भिन्न। किसी के साथ है ही नहीं, वह तो मान रखा है--मैं शरीर। यह तो मिट्टी है। उसका वर्ण, गंध, रस, स्पर्श गुण भी भिन्न है और उसकी जो ऐसी अवस्था होती है--बाल, युवान, वृद्धावस्था भी शरीर की अवस्था शरीर में होती है, उससे आत्मा तो भिन्न है। परन्तु अज्ञान से अपनी ज्ञान, दर्शन, वीर्य की अवस्था अपने में अपने अस्तित्व में होती है और विकार अवस्था भी हीनाधिक होती है, हीनाधिक। ज्ञान, दर्शन की

हीनाधिक, विकारी हीनाधिक और शरीर की हीनाधिक। समझ में आया?

वर्ण, गंध आदि की '**पलटनेरूप अवस्था होती है उन सबको अपनी अवस्था मानता है।**' सबको अपनी अवस्था मानी। ऐसे, यह मेरी अवस्था मानता है, यह मेरी अवस्था है--शरीर की अवस्था (मेरी है)। मैं बालक हूँ, मैं युवान हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मेरा शरीर जीर्ण हो गया, मेरा शरीर पुष्ट हो गया। वह मैं हूँ। ऐसा नहीं है? पेट में बहुत दर्द होता है तो चल नहीं सकता है।

मुमुक्षु :-- मेरे दुःख हुआ।

उत्तर :-- मेरे दुःख हुआ। क्या दुःख? शरीर की अवस्था आत्मा में आ जाती है? आत्मा में रागादिक की अधिकता, हीनादिक होती है, परन्तु शरीर अवस्था के कारण से होती है? लेकिन सब को अपनी अवस्था मानता है। अनादि काल से अपनी चैतन्यसंपदा क्या है उसका निवास उसमें कभी किया नहीं। भगवान आत्मा ज्ञानज्योति चैतन्य (है)। विकार की हीनाधिक अवस्था, ज्ञानादिक हीनादिक पर्याय जितना आत्मा नहीं है। विकार तो नहीं, शरीर की अवस्था तो नहीं, ज्ञान-दर्शन की हीनाधिक अवस्था जितना भी आत्मा नहीं है। आत्मा त्रिकाल ज्ञायक चैतन्यभाव ध्रुव अनादिअनंत स्वभाव है, ऐसी दृष्टि कभी करी नहीं। मिथ्यादर्शन के कारण सब अवस्था को एक मानता है। ओहो..! लेकिन फूरसद कहाँ है? इस दुनिया में काम बहुत है, काम बहुत है। काम कितना करना? दवाई की कितनी बोतल उसके घर थी। दो-चार दिन गये थे। बहुत बोतल पड़ी थी। होती है न, सब के घर उसके प्रमाण में होती है न। किसी को दुकान की खातावही हो तो किसी को माल हो, दूसरे को.... आहाहा..! अब, इसमें आत्मा एक चीज, वह भी हीनाधिक ज्ञानादि अवस्था जितना नहीं। विकार तो नहीं, पर की अवस्था नहीं। ज्ञान-दर्शन की हीनाधिक पर्याय में--दशा में अनुभव करता है उतना भी नहीं। मैं तो ज्ञायक त्रिकाल चैतन्यद्रव्य अनादिअनंत स्वभाव चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य हूँ, ऐसी दृष्टि किये बिना अनादि काल से सब अवस्थाओं में अपना आत्मा मानता है।

'**ऐसी ममत्वबुद्धि करता है।**' देखो! ऐसी अवस्था में--विकार की अवस्था, ज्ञान-दर्शन की अवस्था और शरीर की अवस्था--तीनों अपनी है ऐसा मानता है। समझ में आया? तो वास्तव में तो शरीर की अवस्था मैं नहीं, विकार की हीनाधिक अवस्था मैं नहीं, ज्ञानादिक की हीनाधिक अवस्था जितना भी आत्मा नहीं। आहाहा..! हैं!

मुमुक्षु :-- यह कठिन बात है।

उत्तर :-- कठिन बात है। पहले कहा न? आगे आयेगा न? ८६ पृष्ठ पर आता है। '**इस जीव को मोह के उदय से मिथ्यात्व--कषायादिभाव होते हैं,...**' ८६

पृष्ठ पर प्रथम पंक्ति। '**उनको अपना स्वभाव मानता है,...**' उसको अपना स्वभाव मानता है। परन्तु वह '**कर्मोपाधि से हुए नहीं जानता।**' उपादि, निमित्त की उपाधि (है)। होता है अपने में अपने कारण से। परन्तु निमित्त के लक्ष्य से हुई उपाधि है। वह कहीं निरूपाधिक भाव नहीं है, निरूपाधिक भाव नहीं है। दया, दान, व्रत, तप का विकल्प, भक्ति, पूजा का जो भी राग है वह निमित्त संबंधी अपना नैमित्तिक विकार उपाधिभाव है। वह उपाधि भाव, ऐसा नहीं जानता है कि यह उपाधिभाव है। और मेरी उपाधि से भिन्न भाव का पत्ता नहीं है। क्यों? कि दर्शन, ज्ञान उपयोग और आस्रवभाव दोनों को एकरूप मानता है। पहले में अजीव का कहा था। पुण्य-पाप का भाव हीनाधिक हो वह मैं, जीव वह मैं ऐसा मानता था। यहाँ आस्रवभाव है वही मैं हूँ। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म बात, भाई! भगवान चैतन्यप्रकाश पुंज, ज्ञान-दर्शन उपयोग अपना स्वभाव है और आस्रवभाव मलिन भाव निमित्त के लक्ष्य से उपाधि हुई वह। इन सब को एकरूप मानता है। सब को अनादि से एक मानता है। जीव-अजीव के भेद की खबर नहीं है और आस्रव और आत्मा के स्वभाव के भेद की भी खबर नहीं है। समझ में आता है कि नहीं इसमें? चंपकभाई! इसमें कहाँ फूरसद है? कपड़े का व्यापार करना या इसका विचार करना? क्या करना इसमें? वहाँ रूपया दिखे, सीधा पच्चीस हजार पैदा हो, तीस हजार पैदा हो बाहर में।

मुमुक्षु :-- पच्चीस हजार पूरे नहीं पड़ते।

उत्तर :-- पच्चीस हजार पूरे नहीं पड़ते, ऐसा कहते हैं। कौन जाने क्या होगा? परन्तु पच्चीस हजार तो पैदा करते होंगे न? दे हजार एक महिने में, लो न। अरे..! पचास हजार पैदा हुए। फावाभाई! लो, इनका लड़का ढाई हजार पैदा करता है। बार महिने में पैंतीस हजार। लो, वहाँ अकेला है, ये यहाँ अकेले बैठे हो। पुण्य के कारण होता होगा कि पुरुषार्थ से होता होगा? पूर्व का पुण्य हो तो हो। मैंने किया, वह मैंने किया (ऐसा माननेवाला) पर में ममता करता है। ऐसी लक्ष्मी मैंने पैदा की। मैंने ध्यान रखा तो पैदा हुई। बराबर है?

अपना स्वरूप भगवान चैतन्य ज्ञान और अंतर्मुख आनंद डली, उसको छोड़कर ऐसी सब अवस्था (होती है), उसका कारण क्या? कारण कि उसका आधारभूत एक आत्मा। किसका? दया, दान, व्रत, तप का विकल्प जो उठता है वह मलिनभाव है। आहाहा..! बारह व्रत, पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण, दया, दान, पूजा, भक्ति, यात्रा वह पर तरफ का लक्ष्य होकर उपाधिभाव अपने कारण से अशुद्ध उपादान में होता है। और उसी समय में ज्ञान-दर्शन का व्यापार भी उत्पन्न होता है। तो कहते हैं कि आधार तो एक आत्मा है। देखो! इस विकार का आधार जड़ ऐसा यहाँ नहीं लिया। पुण्य-पाप,

दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प उठता है, उसका आधार कर्म है ऐसा नहीं। है न प्रकाशचंदजी? आधार एक और उसकसा और आस्रवभाव का परिणमन एक ही काल में होने से... आधार एक और परिणमन का काल एक। आहाहा..! पलटने का ज्ञान-दर्शन उपयोग का पलटना और विकार की क्रिया दया, दान, शुभाशुभ के परिणमने का एक काल है। आधार एक, काल एक, भिन्न भासने का प्रयत्न नहीं। क्योंकि बहिर्मुख बुद्धि है तो आस्रव की उत्पत्ति और ज्ञान की उत्पत्ति मेरे में एकसाथ उत्पन्न हुई तो सब मेरा ही है। ऐसा बहिर्मुख दृष्टि में है।

अंतर्मुख दृष्टि करे तो ज्ञान की उत्पत्ति का आधार आत्मा, विकार का आधार भले हो परन्तु वह निमित्त के लक्ष्य से उत्पन्न हुआ बहिर्मुख भाव, वह मेरी चीज में है नहीं। समझ में आया? ऐसा बोध न करके एक ही काल में उसकी भिन्नता भासती नहीं। क्या विकारभाव, क्या त्रिकाल स्वभावभाव। उसकी एकता में भिन्न करने का भास तो होता नहीं। वह भिन्नता भासित होने का कारण विचार है वह, मिथ्यादर्शन के बल से हो नहीं सकते हैं। मिथ्यादर्शन के बल से। किसका? दर्शनमोहनीय के उदय का जोर है इसलिये नहीं हो सकता है, ऐसा नहीं है। मिथ्यादर्शन के बल से, ऐसा यहाँ लिया है। मिथ्या मान्यता है न, कि विकार की दशा और ज्ञान की दशा दोनों का आधार का परिणमन मेरे में हुआ। ऐसी मिथ्याश्रद्धा के बल से भिन्न भासने का प्रयत्न है नहीं, ऐसा लिया है। क्यों सम्राटजी? किसका बल लिया है? दर्शनमोहनी कर्म का? देखो! लेकिन वह प्रतिबद्ध कारण तो है कि नहीं? लो, सुबह प्रश्न आया था न? फूलचंदजी! प्रतिबद्ध कारण, समर्थ कारण इसको कहते हैं कि प्रतिबद्ध कारम टलना चाहिये और अपने में अंतरंग कारण कर्म का भी अभाव होना चाहिये, तो अपने में पुरुषार्थ की जागृति होती है, अन्यथा नहीं होती है। समर्थ कारण में दो लिये हैं न? लेकिन वह तो व्यवहार से दो लिये हैं। न्यायशास्त्र है, व्यवहार से दो साथ में लिये हैं। दो साथ में लेने से निश्चय नहीं होता है। समर्थ कारण, प्रतिबद्ध कारण साथ में लिये वह तो व्यवहार से लिया है। निश्चय में समर्थ कारण आत्मा ही है। आहाहा..! वह तो प्रमाण,... न्यायशास्त्र में व्यवहार दो का कथन किया। प्रमाण, प्रमाण हुआ न? तो प्रमाण व्यवहारनय का विषय हो गया।

अकेला आत्मा अपने आधार से ज्ञान, दर्शन, आनंद की उत्पत्ति करता है अपने कारण से, अपने हेतु से। राग और निमित्त की अपेक्षा छोड़कर निरपेक्ष अपने भाव की उत्पत्ति करता है, उसमें प्रतिबद्ध कारण का अभाव उसके कारण से हो जाता है। परन्तु उसकी यहाँ अपेक्षा है नहीं। निश्चय में अपेक्षा है नहीं। समझ में आया? निश्चय में अपेक्षा कैसी? पर की अपेक्षा हो तो व्यवहार हो जाय। समझ में आया?

प्रतिबद्ध कारण कहते हैं कि नहीं? वह आया है कि नहीं? जैन सिद्धांत प्रवेशिका में।

मुमुक्षु :-- ...

उत्तर :-- हाँ, वह तो पर साथ में लिया है। दोनों साथ लिये हैं। परन्तु साथ में दो आये वह निश्चय का विषय नहीं।

वास्तव में समर्थ कारण भगवान आत्मा, अपने विकार की पर्याय उत्पन्न करने में निमित्त की अपेक्षा बिना निरपेक्ष आत्मा विकार उत्पन्न करता है। अशुद्ध उपादान का भी समर्थ कारण आत्मा है, निश्चय से। निश्चय में पर की अपेक्षा होती नहीं। और अपने स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान भेदज्ञान करने में कषाय की मंदता की निश्चय में अपेक्षा नहीं है। समझ में आया?

कषाय की मंदता की अपेक्षा और यहाँ स्वभाव की अपेक्षा, दोनों का ज्ञान कराना तो प्रमाणज्ञान हुआ। प्रमाण में दो आते हैं। निश्चय में नहीं। निश्चय में तो अकेला आत्मा अपने स्वभाव के आश्रय से, अंतर्मुख भेद करके राग और अपना स्वभाव, राग की अपेक्षा किये बिना भेदज्ञान करता है ऐसा आत्मा का समर्थ कारण का स्वभाव है। समझ में आया?

मुमुक्षु :-- वहाँ पर नियम शब्द वापरा है। ... अभाव होने पर नियम से कार्यसिद्ध होती है।

उत्तर :-- नियम से होती है, बराबर है। नियम से कार्य होता है, लेकिन व्यवहार से लिया। प्रतिबद्ध कारण और अपनी पर्याय, दोनों के साथ काम लिया।

मुमुक्षु :-- ...

उत्तर :-- अनुकूल हो न हो, निश्चय में अनुकूल या प्रतिकूल है ही नहीं, वह तो व्यवहार का कथन है। दोनों को साथ में लिया वह एक कथन नहीं आया। नियम से कार्य होता है भले, यहाँ भी नियम से होता है। अपना उपादान अशुद्ध विकार का कर्ता, कर्म से होता है। नियम से विकार उत्पन्न होता है, निमित्त की अपेक्षा बिना। ओहोहो..! ऐसा कहते हैं, नियम से कार्य उत्पन्न होता है, उसमें कहा है, इसलिये। उसका अर्थ क्या? यहाँ निश्चय से अपना कार्य विकार से रहित मैं हूँ, ऐसा करता है तो विकार की मंदता का निमित्त की सापेक्षाता से प्रतिबद्ध कारण टला और उदय का अभाव हुआ ऐसा कहने में आता है। जैन सिद्धांत प्रवेशिका में दो बोल का साथ में है न, इसलिये प्रतिबद्ध कारण... दीपक कब रहे? कि पवन न हो तो।

मुमुक्षु :-- लेकिन वह रहनेवाला हो तो पवन होता ही नहीं।

उत्तर :-- होता ही नहीं, परन्तु वह तो निमित्त का ज्ञान करवाया। दीपक को

अपनी ज्योत से रहना है वह समर्थ कारण अपना है। तब प्रतिबद्ध कारण पवन का अभाव पवन के कारण से होता है, वह साथ में लेकर ज्ञान करना सो प्रमाण है। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि, विकार और भगवान आत्मा, ज्ञान-दर्शन की पर्याय और विकारी पर्याय--दोनों की पर्यायबुद्धि है और वर्तमान बुद्धि है तो दोनों का एक आधार मानकर और दोनों का परिणमन एक मानकर, मेरा ही वह विकार है, ऐसा मान्यता के बस ले करता है। मिथ्याश्रद्धा के बल से ऐसा मानता है। वस्तु का स्वरूप ऐसा है नहीं। वस्तु तो अंतर्मुख चैतन्य ज्ञानानंद राग और निमित्त जड़ की प्रतिबद्ध के अभाव की अपेक्षा किये बिना, प्रतिबद्ध का अभाव की अपेक्षा किये बिना। आरे.. आरे..! भारी बात भाई!

मुमुक्षु :-- ... कभी टले नहीं।

उत्तर :-- वह टले तब मुझे हो, ऐसा है वहाँ? पर की अपेक्षा बिना अपने निरपेक्ष चैतन्य भगवान ज्ञान-दर्शन की पर्याय का उत्पन्न करनेवाला वह पूर्ण कौन है? वह पूर्ण कौन है? इतना। यह अंश जो उत्पन्न होता है, विकार तो पर में गया पर तरफ के लक्ष्य से, लेकिन अपने में जो ज्ञान-दर्शन की पर्याय उत्पन्न होती है, उसका आधार कितना है? क्या है? तो उस पर्याय से हटकर स्वभावबुद्धि होती है तो निमित्त और राग की अपेक्षा बिना होती है। निरपेक्ष होती है। फूलचंदजी! यह बड़ी गड़बड़ चलती है।

अरे.. भगवान! तेरी स्वतंत्रता....। कर्ता होकर स्वतंत्रपने करे उसको कर्ता कहते हैं। कर्ता स्वतंत्र होकर करे उसको कर्ता कहते हैं। पर की अपेक्षा रखकर करे वह कर्ता स्वतंत्र रहा नहीं। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं, जो आत्मा एक काल में विकारी परिणमन उत्पन्न हुआ और ज्ञानादि की पर्याय उत्पन्न हुई, दोनों को एक मानता है। भिन्न भासने का कारण तो मिथ्याश्रद्धा रखकर पड़ा है। मिथ्याश्रद्धा रखकर तो पड़ा है कि वह मेरा है, मेरेमें से उत्पन्न हुआ है, मेरे से उत्पन्न हुआ है ऐसी श्रद्धा रखकर तो पड़ा है। भिन्न करने की ताकत है नहीं। अपनी मिथ्याश्रद्धा के कारण भिन्न करने की ताकत नहीं है। दर्शनमोह का उदय है तो भिन्न करने की ताकत नहीं है ऐसा नहीं है। समझ में आता है कि नहीं? नंदलालभाई! बहुत सूक्ष्म बातें।

आत्मा कैसा है? यह क्या है? लिखा था न? पहले से आया है न उसमें? देखोन! '**अनादि काल से जीव है वह कर्म के निमित्त से अनेक पर्यायें धारण करता है।**' वहाँ-से शुरू किया है न। अनेक शरीर, उसमें विकास, उसमें ज्ञान की

उत्पत्ति, विकार उपाधिभाव--सब को एक मानकर परिभ्रमण कर रहा है। कहो, समझ में आया?

अब यहाँ, '**उन सब को अपनी अवस्था मानता है। 'यह अवस्था मेरी है'--ऐसी ममत्वबुद्धि करता है।**' ८४ पृष्ठ। यहाँ जीव-अजीव का अधिकार चलता है। वह जीव नहीं, विकार परिणाम जीव नहीं, शरीर की अवस्था जीव नहीं, शरीर का वर्ण, गंध, रस, स्पर्श जीव नहीं। सब में ममत्व करता है कि वह मेरा, वह मेरा, वह मेरा ऐसा ममत्व करता है।

'**तथा...**' वळी का क्या अर्थ है तुम्हारे में? और। '**जीव और शरीर के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है...**' देखो! सब को अपनी अवस्था मानता है, भिन्न नहीं जानता है यह बात करते हैं। '**जीव और शरीर के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है...**' जब शरीर को निमित्त कहे तो आत्मा की पर्याय को ज्ञानादिक को नैमित्तिक कहे। जब आत्मा की पर्याय को निमित्त कहे तो शरीर की पर्याय को नैमित्तिक कहे। काल तो एक ही है। '**इसलिये जो क्रिया होती है...**' दोनों के संबंध में हिलना, चलना, बोलना हो उसको अपनी मानता है। कहो, उसे अपनी मानता है। देखो! मैंने शरीर हिलाया। नीचे लेंगे, हाँ!

'**अपना दर्शन-ज्ञान स्वभाव है,...**' देखो! न्याय देते हैं। अपना स्वभाव तो ज्ञान-दर्शन है। जानना-देखना अपना स्वभाव है। '**उसकी प्रवृत्ति को निमित्तमात्र शरीर के अंगरूप...**' निमित्तमात्र शरीर के अंग, मन, इन्द्रिय निमित्तमात्र है। उपादान तो अपनी पर्याय अपने से काम करती है। अपना स्वभाव दर्शन-ज्ञान और उसकी प्रवृत्ति में--परिणति में निमित्तमात्र शब्द लिया है, देखो! निमित्त ऐसा भी नहीं लिया, नीचा दिखाने को निमित्तमात्र (कहा)। 'मात्र' कहकर बहुत साधारण बात बना दी। भगवान आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन की पर्याय में प्रवृत्ति करता है। उसमें शरीर का पाँच इन्द्रिय, मन आदि अंग है, (वह) निमित्तमात्र है।

'**शरीर के अंगरूप स्पर्शनादि द्रव्यइन्द्रियाँ हैं;...**' पाँच इन्द्रियाँ है न? यह पाँच द्रव्येन्द्रिय। रूप को जानने की प्रवृत्ति करे तब आँख निमित्त है। सुनने की, सुनने की प्रवृत्ति करे तो कान निमित्त है। प्रवृत्ति तो अपनी अपने कारण से होती है। अपनी अपने कारण से होती है। निश्चय से उसमें निमित्त की अपेक्षा नहीं है। परन्तु जहाँ व्यवहार निमित्त उसकी ज्ञान की पर्याय, दर्शन की पर्याय में इन्द्रियों को निमित्त देखकर.... अब यह जीव उन सब को एकरूप मानकर ऐसा मानता है। '**उन्हें एक मानकर ऐसा मानता है कि--हाथ आदि से मैंने स्पर्श किया,...**' देखो! हाथ इत्यादि, पैर द्वारा इत्यादि इन्द्रिय द्वारा, मैंने इस स्पर्श के द्वारा दूसरे का स्पर्श किया।

मुमुक्षु :-- वडे माने?

उत्तर :-- द्वारा। स्पर्श द्वारा। मैंने स्पर्श द्वारा।

मुमुक्षु :-- स्पर्श इन्द्रिय के द्वारा।

उत्तर :-- हाँ, द्वारा। इस स्पर्श इन्द्रिय के द्वारा। स्पर्श इन्द्रिय द्वारा मैंने स्पर्श किया। तूने स्पर्श इन्द्रिय द्वारा स्पर्श किया? तेरा भाव तो जानना-देखना है। तेरी पर्याय में जानना-देखना हुआ। उसमें स्पर्श इन्द्रिय तो निमित्तमात्र है। उसके द्वारा मैंने स्पर्श किया। कौन स्पर्शे? पर का कार्य करे कौन? स्पर्श द्वारा पर को स्पर्श करना, यह आत्मा में है ही नहीं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श करता है--छूता है, ऐसा तीन काल तीन लोक में नहीं है। समझ में आया? हाथ इत्यादि क्यों लिया है? हाथ, पैर.. पैर में भी ऐसा होता है न? खुजली आती है तो पैर ऊँचा करके खुजाये। पैर द्वारा, इन्द्रिय द्वारा, हाथ द्वारा, शरीर द्वारा, उसके द्वारा, शरीर के स्पर्श के कोई भी भाग द्वारा। हाथ इत्यादि स्पर्श द्वारा मैंने स्पर्श किया, ऐसा अज्ञानी मानता है। परनतु मैं, जानने-देखने की प्रवृत्ति करनेवाला ज्ञायकभाव भिन्न हूँ, वह मेरे से प्रवृत्ति मेरे में होती है, वह तो निमित्तमात्र है, ऐसा नहीं जानता है। उसको मैं स्पर्श द्वारा स्पर्श करता हूँ। कहो, समझ में आया? आहाहा..!

हिस्से का बटवारा किया नहीं, हिस्से का। बाप मर जाये तो लड़के तुरन्त बटवारा करे। हैं! पाँच-दस लाख की पुंजी हो, बटवारा कर दो। कहाँ छोड़ गये हैं? यहाँ बटवारा... तेरा क्या स्वभाव, क्या विभाव, क्या इन्द्रिय द्वारा का कार्य, हिस्से का बटवारा उसने कभी किया नहीं। वह मिथ्यादर्शन श्रद्धा रखता है कि वह मैं हूँ न। वह मैं हूँ, ऐसा श्रद्धा रखता है तो उससे भिन्नता करने की ताकत है नहीं। '**हाथ आदि से मैंने स्पर्श किया...**'

मुमुक्षु :-- वहेंचणी माने भिन्नता?

उत्तर :-- वहेंचणी (माने) भेदज्ञान। वहेंचणी का अर्थ भेद। हिस्सा अलग करना, दोनों का हिस्सा। उसका कारण उसमें, मेरा कारण मेरे में। अलग-अलग।

'**जीभ से स्वाद लिया,...**' देखो! आहा..! जीभ ही तेरी नहीं है, कहाँ-से चखेगा? यह तो जड़ है। जड़ का हिलना-डुलना भी जड़ है। वह तो ४९ गाथा में आया न? द्रव्येन्द्रिय द्वारा जानना वह भी आत्मा नहीं। भावेन्द्रिय द्वारा जानना वह भी आत्मा नहीं और क्षयोपशमभाव जितना भी आत्मा नहीं। क्षयोपशमभाव एक समय की पर्याय है, उतना आत्मा नहीं है।

मुमुक्षु :-- भावेन्द्रिय..

उत्तर :-- क्षयोपशम उतना। क्षयोपशम सामान्य। भावेन्द्रिय, वह खंड खंड इन्द्रिय

का ज्ञान करने में काम आती है। खंड खंड इन्द्रिय। क्षयोपशम खंड खंड। लेकिन क्षयोपशम का पूरा भाव भिन्न लिया। पूरा सब इन्द्रिय का क्षयोपशम, मन का क्षयोपशम, सब का क्षयोपशम है न? एक-एक इन्द्रिय का इतना खंड, खंडज्ञान वह भावइन्द्रिय और सब का क्षयोपशमभाव--पाँच का, मन का, सब का उघाड़भाव है। उस उघाड़भाव की पर्याय जितना भी आत्मा नहीं है। क्षयोपशमभाव द्वारा जानना वह भी निश्चय से आत्मा नहीं। कहो, समझे?

'**जीभ से स्वाद लिया...**' चखा, चखे कौन? आत्मा तो जानने-देखनेवाला है। यहाँ यह हुआ, जीभ निमित्त हुई, प्रवृत्ति अपने परिणाम में अपने से हुई। यह चीज है, ऐसा ख्याल में आया कि यह खट्टा-मीठा है। उस खट्टे-मीठे के कारण नहीं। जीभ इन्द्रिय के कारण नहीं। अपनी पर्याय की उपादान की योग्यता से खट्टा-मीठा ख्याल में आया। ऐसा न मानकर, मैंने जीभ से स्वाद लिया (ऐसा मानता है)। यह तो एक मिथ्यात्व का एक-एक अंग का प्रकार बताते हैं। मिथ्यात्व का असंख्य प्रकार है। उसमें से एक यह भी प्रकार है। क्योंकि शरीरादि इन्द्रिय पर है तो उसके द्वारा मैं काम करता हूँ, वह भी एक मिथ्याश्रद्धान का एक भाग है। समझ में आया?

मैंने '**जीभ से स्वाद लिया...**' कहो, यह लड्डु। लड्डु.. लड्डु। मावा का जामून रात को खाया था कि नहीं? मावा का जामून वहाँ बनाया था न? दस दिन जेवनार किया था। भिन्न-भिन्न जेवनार किया था। कितनों को फड़सा दिया, फड़सा समझते हो? ये बनिये खाते हैं न? थोड़ा विशेष टूकड़ा (दिया)। हमारे यहाँ शादी में ऐसा होता है, शादी में सब जिम ले न? फिर थोड़ा-थोड़ा लड्डु का टूकड़ा देते हैं। वह प्रेम से--उल्लास से देते हैं।

मुमुक्षु :-- प्रेम दर्शाने को।

उत्तर :-- प्रेम दर्शाने को। यहाँ फूलचंदभाई प्रेम दर्शाते थे, ऐसा सुना था, कोई कहता था। फूलचंदभाई, मोरबीवाले। मावा का जामून। एक तो खाकर बैठा हो, इतना बड़ा पेट, उसमें दो-चार और दे। फिर ऊल्टी हो। वह उसके कारण नहीं, हाँ! ऊल्टी हो तो भी स्वतंत्र जड़ के कारण (होती है) और खाने की क्रिया होती है वह भी स्वतंत्र जड़ के कारण होती है। लेकिन मैंने जीभ द्वारा खाया। मूढ़ है। जीभ द्वारा चखा। प्रभु! चखने की पर्याय का ज्ञान तो तेरे में स्वयं, इन्द्रिय और उस विषय की अपेक्षा रहित निरपेक्ष होता है। आहाहा..! समझ में आया?

क्योंकि प्रवृत्ति ली न? '**अपना दर्शन-ज्ञान स्वभाव है, उसकी प्रवृत्ति...**' प्रवृत्ति तो परिणति अपनी है। जानने-देखने की परिणति--पर्याय अपनी है। अपने से उत्पन्न होती है और अपने षट्कारक अपने से है। उस परिणति का कर्ता भी आत्मा, कर्म

भी अपना, साधन भी अपना, अपना करके अपने में रखता है, अपने से भिन्न करके ध्रुव रखता है और अपने आधार से प्रवृत्ति होती है। इन्द्रिय के आधार से और चखने की चीज है उसके आधार से ज्ञान-दर्शन की प्रवृत्ति होती नहीं। लेकिन भिन्न करने की श्रद्धा नहीं है तो सब को एक मानता है। भिन्नता क्यों करे? तो कहते हैं कि, (मिथ्या) श्रद्धा के बल से वह सब को अपना मानता है।

'**नासिका से सूँघा,...**' लो, इसके द्वारा, इसके द्वारा। सब कहते हैं न, द्वारा, द्वारा। निमित्त द्वारा, निमित्त द्वारा। यहाँ तो कहते हैं, निमित्त द्वारा मैंने ऐसा काम लिया, वह मिथ्यादर्शन--श्रद्धा का अभिप्राय है। '**नासिका से सूँघा...**' फूल सूँघा। भैया! सुगंध की पर्याय उसमें रही, नासिका की पर्याय नासिका में रही और अपनी ज्ञान-दर्शन की पर्याय अपने में पर की निश्चय से अपेक्षा रहित अपने से प्रवृत्ति हुई। नाक और सुगंध की पर्याय की अपेक्षा बिना निरपेक्ष से जानने-देखने की, सुगंध का ज्ञान करने की पर्याय अपने में अपने से हुई। ऐसा नहीं मानकर, मैंने नाक द्वारा सुगंध सूँघी। अरे..! खिचड़ी (--भेलसेल) कर दी। अपना आत्मा और इन्द्रिय और वह चीज, तीनों को एक माना। ओहोहो..! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! इसके बजाय धर्म कर दें, व्रत पाले, व्रत करे, उपवास करे, ऐसा करे, जाओ धर्म हो गया। नंदलालभाई! एकदम आसान था, यह महँगा हो गया, ऐसा लोग कहते हैं। इतना सरल था। वहाँ पाँचसौ-पाँचसौ पौषध होते थे। संवर, हाँ! पाँचसौ-पाँचसौ। बोटाद में (संवत) १९८० में अंतिम चातुर्मास था। पाँचसौ संवर लोगों का। ३०० घर।

मुमुक्षु :-- ...

उत्तर :-- संवर, संवर पौषध कहते हैं न? आप में संवर नहीं करते हैं? पौषध करके बैठ जाना।

मुमुक्षु :-- एक बखत खाना।

उत्तर :-- खाना भी नहीं, पानी भी नहीं। उपवास करके बैठ जाना। पाँचसौ आदमी लगातार। पाँचसौ आदमी एक दिन में। एक दिन में पाँचसौ संवर। ऐसा होता था। पाँचसौ प्रकार करनेवाला। पाँचसौ जीव। हैं?

मुमुक्षु :-- ओम शांति।

उत्तर :-- ओम शांति दूसरा, जाप। यह तो हमारे यहाँ स्थानकवासी में ऐसा होता है कि आहार न करे, पौषध भी न करे। पौषध तो अमुक समय में करे। ये तो आकर बैठ जाये। एकाद घण्टा, दो घण्टा देर से आये, चार घण्टा देर से आये, संवर करके बैठ जाये। संवर कहते हैं, उसे संवर कहते हैं। धूल में भी संवर नहीं है। सम्यग्दर्शन का संवर हो गया।

आत्मा क्या चीज है, विकार क्या है, पर प्रवृत्ति क्या है, दोनों में कुछ भान तो है नहीं। कहाँ-से तुझे संवर आया? मिथ्यात्व का आस्रव रोकना किससे होता है? क्या मिथ्यात्व आता है, उत्पन्न हुआ उसको रोकना है? मैं ज्ञानानंद चैतन्यानंद शुद्ध हूँ, ऐसी जब दृष्टि हुई तो मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती नहीं। होती नहीं उसको रुँधकर संवर किया ऐसा कहने में आता है।

मुमुक्षु :-- सामायिक करते हैं।

उत्तर :-- सामायिक कहाँ है? सामायिक किसको कहते हैं?

मुमुक्षु :-- सिर्फ बैठ जाते हैं।

उत्तर :-- हाँ, बैठ जाते हैं। हाँ वह। ख्याल है। ये सामायिक इसमें नहीं करते हैं? तुम्हारे ब्रह्मचारी करते हैं न पाँच-पच्चीस? उदासीन आश्रम में नहीं करते हैं? ... लेकिन सामायिक किसको कहना? क्या देह ऐसा करना वह सामायिक है? अभी तो पुण्य और पाप दो विकल्प है, दोनों की एक जाति है, बन्ध का कारण। और अबंधस्वभाव मेरा भिन्न है, ऐसी प्रतीति अनुभव में हुए बिना सामायिक कहाँ-से आयी? सामायिक तो व्रत है। व्रत तो सम्यग्दर्शन होने के बाद पंचम गुणस्थान में होता है। चारित्र और महाव्रत तो छठवें गुणस्थान में होता है। तो अभी सम्यग्दर्शन भूमिका क्या है, किसमें रहना और किसमें-से हठना, (इसका) भेदज्ञान तो है नहीं। समझ में आया?

भगवान आत्मा ज्ञानानंद पुंज प्रभु अभेद एक वस्तु है, उसमें दृष्टि लगाकर और राग और पुण्य-पाप के विकल्प से भिन्न देखना, भिन्न अवलोकन चैतन्य का न हो तब तक किसमें रमना उसकी खबर उसको है नहीं। चारित्र किसमें करना है? तो कहते हैं कि, ये तो सब को एक मानता है। मैंने '**नासिका से सूँघा...**' समझे?

'**नेत्र से देखा,...**' लो, नेत्र से मैंने देखा। मेरे ज्ञान द्वारा देखा, ऐसा नहीं। उस चीज को नहीं, मेरे ज्ञान द्वारा मैं मेरे को देखता हूँ। पर को देखना कहना यह व्यवहार है। परन्तु यहाँ तो कहते हैं, मैंने '**नेत्र से देखा...**' मूढ है। नेत्र परवस्तु है। क्या ऐसे ऊँचा-नीचा तू कर सकता है? उसके द्वारा, उस पर्याय द्वारा तेरी ज्ञान-दर्शन की पर्याय होती है? तेरी ज्ञान-दर्शन की पर्याय तेरे से होती है। नेत्र और देखने की चीज की अपेक्षा बिना तेरी प्रवृत्ति अपने से होती है। लेकिन उसको ऐसा लगता है, उसे नेत्र द्वारा देखा तो मेरी ज्ञान-दर्शन की प्रवृत्ति हुई। ज्ञान-दर्शन की प्रवृत्ति हुई। समझे?

मूल भूमिका पक्की किये बिना वृक्ष.. आता है न वह? मोक्षमार्ग में आया नहीं? वृक्ष। भूमिका के बिना वृक्ष कहाँ-से आया? मोक्षमार्ग (प्रकाशक में) सातवेँ अध्याय में, नहीं? सातवाँ, सातवाँ। भूमिका के बिना, वह आया है। श्रद्धा अधिकार में आता

है कि नहीं? चारित्र अधिकार में होगा? २४२, चारित्र अधिकार। २४२ पृष्ठ है, देखो! '**दंसणभूमिह बाहिरा, जिय वयरुक्ख ण होंति...**' मूल तो श्रावकाचार का दोहा है, हाँ! लिखा है, योगीन्द्रदेव कृत, परन्तु है 'सावगधम्मं' दोहा में वह श्लोक है। '**दंसणभूमिह बाहिरा, जिय वयरुक्खं ण होंति**' हे आत्मा! सम्यग्दर्शन भूमि बिना व्रतरूपी वृक्ष न होता है। जिन जीवों को तत्त्वज्ञान है नहीं उसको यथार्थ आचरण आचरता नहीं। कहाँ-से आचरे? अभी तत्त्वज्ञान की दृष्टि पर से भिन्न हुई नहीं, तो पर से भिन्नता नहीं होकर, पर में आचरण करता है और मानता है कि मैं चारित्र व्रत पालन करता हूँ। वह तो मिथ्यादर्शन को पालता है। सम्यग्दर्शन की भूमि बिना वृक्ष कहाँ-से ऊगेगा? आकाश में ऊगता है? समझ में आया?

मैंने '**नेत्र से देखा,...**' ऐसा माननेवाला पर को अपना मानता है। मेरी पर्याय से मैं देखनेवाला मेरे को देखता हूँ। वह क्या देखने की चीज है? वह तो पर में रही। मेरे ज्ञान से, मेरे दर्शन से मेरी पर्याय को मैं देखता हूँ। ऐसा न मानकर, नेत्र से मैंने पर को देखा, वह बुद्धि में विपर्यास है। देखने की चीज और नेत्र से भिन्न न मानकर, तीनों को एक मान रखा है।

मैंने '**कानों से सुना...**' कान से मैंने सुना। कान तो मिट्टी है।

मुमुक्षु :-- बहरा मनुष्य सुनता नहीं।

उत्तर :-- सुनता नहीं है, (वह तो) उसके क्षयोपशम में उतनी योग्यता है। क्या कान के कारण से है? बहरा मनुष्य सुनता नहीं, बहरा। बहरा कहते हैं न? क्या कहते हैं? तो क्या कान के कारण से है?

मुमुक्षु :-- कान तो बड़े-बड़े हैं।

उत्तर :-- बड़े कान हो, तो उसमें क्या है? अन्दर में भाव... पुनः कहते हैं कि अन्दर परदा नहीं है, ऐसा कहते हैं। समझे न? परन्तु परदा टूटे (उससे नहीं), क्षयोपशम ज्ञान की योग्यता ही ऐसी है। उसके अपने कारण से क्षयोपशम ज्ञान की ऐसी योग्यता है। नहीं के इन्द्रिय के कारण से प्रवृत्ति हुई और इन्द्रिय न हो तो ऐसी प्रवृत्ति होती नहीं, ऐसा है नहीं। समझ में आया?

मैंने '**कानों से सुना,...**' लो, ऐसा मानता है। ज्ञान किया उस शब्द का, कान है उसका ज्ञान किया। ज्ञान किया तो अपनी ज्ञान की परिणति से हुआ। अपने ज्ञान-दर्शन की प्रवृत्ति से (हुआ), पर से है नहीं। इतने अंश की प्रवृत्ति को स्वतंत्र न स्वीकारे, वह त्रिकाल ज्ञायकभाव है उसकी स्वतंत्रता का स्वीकार उसमें होता नहीं। समझ में आया? क्या कहते हैं?

ज्ञान-दर्शन की प्रवृत्ति वर्तमान अपनी पर्याय अपने से निरपेक्ष, इन्द्रिय और विषय

से निरपेक्ष है, इतना स्वीकार जिसको नहीं है, उसको त्रिकाल स्वयंसिद्ध शुद्ध चैतन्यमूर्ति स्वतंत्र है उसका स्वीकार हो सकता नहीं। यहाँ तो अभी रुका है पर्याय में। मेरी पर्याय कहाँ-से हुई? कि, इन्द्रिय से, निमित्त से। निमित्त से हुई तो अपने उपादान से क्या किया?

मुमुक्षु :-- पता नहीं।

उत्तर :-- पता नहीं? निमित्त से हो तो निमित्त आया। अब, उस समय उपादान ने क्या किया? उपादान नाम तेरी पर्याय ने क्या काम किया? अथवा तेरे गुण ने क्या काम किया? निमित्त से ज्ञान-दर्शन की प्रवृत्ति हुई तो ज्ञान-दर्शन जो त्रिकाल गुण है, उसके विशेष भाव ने क्या काम किया? उसका विशेष भाव निमित्त से हुआ तो सामान्य ने विशेष भाव क्या किया? भाव तो एक ही है। समझ में आया? गुण सामान्य है कि नहीं त्रिकाल जानना-देखना? तो उसके विशेष की प्रवृत्ति तो कहते हैं, निमित्त से हुई। तो सामान्य से क्या हुआ? खाली रहा सामान्य? विशेष परिणमित हुए बिना रहा?

मुमुक्षु :-- वह भी खाली रहा। उसकी पर्याय उसने की।

उत्तर :-- हाँ, उसने की। सामान्य विशेष बिना रहा। सामान्य विशेष बिना (रहा तो) उस विशेष को निमित्त ने बनाया। बड़ी (विपरीत) दृष्टि, पर्यायबुद्धि में भी परतंत्रता। समझ में आया?

यहाँ वह कहते हैं कि, इतनी ज्ञान-दर्शन की प्रवृत्ति अपने से होती है, उसमें भी इन्द्रिय से मुझे हुआ, इन्द्रिय द्वारा मैं चखा, सूँघा। तेरी दृष्टि बहुत पर में एकत्व हो रही है। जीव का भाव जीव क्या? चैतन्य भगवान है, उसकी तेरी श्रद्धा का भरोसा नहीं (है)।

अब, '**मनोवर्गणारूप आठ पंखुड़ियों के फूले कमल के आकार का हृदयस्थान में द्रव्यमन है,...**' यहाँ जड़ है एक। मनोवर्गणारूप--मन रजकण है उसकी वर्गणा (अर्थात्) समूह, उस रूप जो परिणमित है, '**आठ पंखुड़िया के फूले...**' आठ पंखुड़ियों का कमल होता है न? '**फूले कमल के आकार का...**' संकुचित नहीं। ऐसे हृदयस्थान में शरीर के अंगरूप यहाँ एक द्रव्यमन है। '**जो दृष्टिगम्य नहीं ऐसा है...**' वह द्रव्यमन दृष्टिगम्य नहीं है। मनुष्य मर जाता है न? बाद में डॉक्टर चीरते हैं। अफिम खाकर मर गया हो झहर से, चीरते हैं न? चीरते हैं। तो द्रव्यमन उसको कहीं हाथ नहीं आता है। वह तो बहुत सूक्ष्म है। वह कहे कि, आप द्रव्यमन कहते हो, द्रव्यमन कहते हो, हमने तो चीरकर पूरा देख लिया। वहाँ कहाँ तेरे हाथ आयेगा वह? वह तो अंगूल के असंख्यातवें भाग में बहुत सूक्ष्म रजकण से फूले कमल के आकार से

मन है। यहाँ बात दूसरी बतानी है।

वह द्रव्यमन '**उसके निमित्त होनेपर स्मरणादिरूप ज्ञान की प्रवृत्ति होती है।**' निमित्त होनेपर स्मरणादिरूप ज्ञान की (प्रवृत्ति)। यहाँ मन का कार्य कहना है न? स्मरणादिरूप प्रवृत्ति आत्मा करता है तो उसमें मन निमित्त पड़ता है, बस! इतनी बात है। स्मरण आता है न भूतकाल का? पाँच साल पहले मैंने ऐसा किया था, दस साल पहले ऐसा हुआ था, उस स्मरण में मन निमित्त है। इन्द्रियाँ जड़ निमित्त नहीं है, विचार करते हैं उसमें। मेरे साथ पाँच साल पहले ऐसा हुआ था, दस साल पहले ऐसा हुआ था, उस स्मृति के विभाग में प्रवृत्ति तो अपने ज्ञान की पर्याय की प्रवृत्ति होती है। उसमें मन का निमित्त पड़ता है, जड़ मन का निमित्त पड़ता है।

मुमुक्षु :-- ऐकेन्द्रिय को..

उत्तर :-- वह नहीं होता है, उसको धारणा होती है। अवग्रह, इहा, अवाय, धारणा है, परन्तु यह विशेष चीज उसके पास नहीं है।

मुमुक्षु :-- स्मृति नहीं है?

उत्तर :-- नहीं, नहीं। अवग्रह, इहा और धारणा है, धारणा है। समझ में आया? '**निमित्त होनेपर स्मरणादिरूप ज्ञान की प्रवृत्ति होती है।**' मन कहाँ है ऐकेन्द्रिय को? यहाँ तो मन की बात हो उसकी बात चलती है न। यहाँ द्रव्यमन से मैं काम करता हूँ, ऐसा माननेवाला संज्ञी की बात ली है। जिसको मन नहीं है उसकी प्रवृत्ति यहाँ (है नहीं)। उसको उपदेश भी कहाँ करना है और उसको समझाना भी कहाँ है कि तू कहाँ भूल रहा है। तुम भूल करते हो, ऐसा कहाँ उसको सुनना है।

यहाँ तो कहते हैं कि जो द्रव्यमन जड़ है, उसका निमित्त पाकर स्मरणादिरूप ज्ञान की (प्रवृत्ति होती है)। देखो! निमित्त होता है, लेकिन निमित्त होने का अर्थ क्या? वह अपने में स्मरण की प्रवृत्ति करता है तो जड़ मन का निमित्त होता है। और '**यह द्रव्यमन को और ज्ञान को एक मानकर...**' देखो! ज्ञान की स्मरणरूप प्रवृत्ति और द्रव्यमन, द्रव्यमन है तो मेरी स्मरण की प्रवृत्ति हुई। ऐकेन्द्रिय को क्यों नहीं होती है? दो इन्द्रिय को क्यों स्मृति नहीं होती है? कि मन नहीं है। मन है तो स्मृति हुई, ऐसा माननेवाला दो को एक मानता है। समझ में आया? और दलील ऐसी दे कि, लट और चींटी, मकोड़े को मन कहाँ है? तो उसको स्मृति कहाँ है? इसलिये मन हो तो स्मृति होती है। अरे..! सुन तो सही। स्मृति होती है उसमें मन निमित्त है, ऐसा कहते हैं। जिसको स्मृति होने की क्षयोपशम की लायकात अन्दर है, उसको द्रव्यमन निमित्त कहने में आता है। निमित्त है तो स्मृति होती है ऐसी बात है नहीं। निमित्त की सापेक्षता बिना अपनी स्मृति अपने कारण से आत्मा करता है,

लो। निश्चय से तो यह बात है। परन्तु निमित्त देखकर उसके कारण मेरे में स्मृति हुई, मन से मेरे में स्मृति हुई। '**द्रव्यमन और ज्ञान को एक मानकर ऐसा मानता है कि मैंने मन से जाना।**' देखो! मैंने मन से जाना। अरे..! तेरे ज्ञान से जाना है। अंतर्मुख दृष्टि नहीं है तो बहिर्मुख द्वारा ऐसा मानता है। '**मैंने मन से जाना।**'

'**तथा अपने को बोलने की इच्छा होती है...**' पाँच इन्द्रिय, मन लिया, अब वाणी लेते हैं। '**बोलने की इच्छा होती है तब अपने प्रदेशों को जिस प्रकार बोलना बने उस प्रकार हिलाता है,...**' प्रदेश तो उसके कारण हिलते हैं, परन्तु इच्छा का निमित्त देखकर इच्छा से प्रदेश, मैं ऐसा बोलूँ, ऐसे प्रदेश हिलते हैं। '**तब एकक्षेत्रावगाह संबंध के कारण शरीर के अंग भी हिलते हैं।**' इस शरीर का अंग भी ऐसे हिले, होठ हिले। '**भाषावर्गणारूप पुद्गल वचनरूप परिणमित होते हैं;...**' भाषावर्गणारूप पुद्गल उस वक्त वचनरूप होते हैं। इस शरीर से भी नहीं। शरीर तो आहारवर्गणा का बना है। तो आहारवर्गणा से भी वचनवर्गणा का परिणमन नहीं होता है, तो आत्मा से वचनवर्गणा का परिणमन हो, ऐसा कभी होता नहीं। लेकिन मानता है कि मैंने शरीर हिलाया और मैं भाषा बोला। मैं भाषा बोला। देखो, ऐसा बोला। केवली को इच्छा बिना भाषा हो, यहाँ तो इच्छा अनुसार ही हम भाषा बोलते हैं। ऐसा होगा? समझ में आया?

जिसके निमित्त से एकक्षेत्रावगाह संबंध से शरीर का अंग हिलने पर, शरीर हिले न? होंठ आदि या कंठ आदि, बोलते समय (हिले)। तब, '**भाषावर्गणारूप पुद्गल...**' उस वक्त वहाँ भाषा रजकण के परमाणु हैं, वे वचनरूप परिणमते हैं। '**यह सब को एक मानकर ऐसा मानता है कि मैं बोलता हूँ।**' मैं बोलता हूँ, मैंने प्रदेश हिलाये, शरीर हिला, वाणी मैंने निकाली। ओहोहो..! समझ में आया? यह मिथ्यादर्शन की दशा। मैं बोला, मेरे से भाषा की पर्याय हुई, शरीर को मैंने हिलाया। शास्त्र में तो आता है कि आहारवर्गणा से भाषावर्गणा नहीं होती है। आहारवर्गणा जुदी है और भाषावर्गणा जुदी है और आत्मा बिलकुल जुदा है। आत्मा कहाँ बोल सके? इस आहारवर्गणा से भी भाषा नहीं होती, भाषावर्गणा से भाषा होती है। समझ में आया? तो यह तो मानता है कि आहारवर्गणा को भी मैंने हिलाया। आहार से बना यह वर्गणा शरीर और भाषावर्गणा को भी मैंने परिणमित किया। मैं बराबर ऐसी भाषा बोल सकता हूँ। ऐसे सब को एक मानता है। (तेरी) दृष्टि मिथ्या है। ओहोहो..!

मुमुक्षु :-- इच्छा करता है।

उत्तर :-- इच्छा होती है उसके कारण, उसमें क्या? इच्छा से क्या शरीर हिलता है? होंठ हिलते हैं ऐसे? वह तो उसके कारण है। समझे? यह तो उसके कारण

बोलता है, यह मानता है कि मेरे कारण हिलता है। ऐसे सब को एक मानता है। और उसके कारण भाषा निकली, मेरे कारण भाषा निकली। सब को एक मानता है। शरीर को, भाषा को, सब को एक मानता है। समझ में आया? मैं बोलता हूँ, मैं बोलता हूँ। एक जन को पूछा, महाराज! यह कौन बोलता है? फिर कहा, तेरा बाप बोलता है? तू बोलता है। अरे.. भगवान! वह पूछता है कि ये बोलता कौन है? भाषा बोलती है? कि शरीर बोलता है? कि आत्मा? ऐसा पूछने का आशय था। वह तो बराबर जोरदार आदमी दृष्टि में था। क्या बोलते हो? तुम नहीं बोलते तो क्या तेरा बाप बोलता है? सोनगढ़वाले कहते हैं कि भाषावर्गणा बोलती है। वहाँ तो कह सके नहीं, इतना ज़ोर हो तो। अरे.. भगवान!

एक-एक परमाणु की पर्याय अपने कारण से होती है, तो भाषावर्गणा तो अनंत परमाणु का अनंत स्कंध है। वह स्कंध भी इस होंठ के कारण हिलते हैं, भाषारूप होती है (ऐसा) तीन काल में नहीं है। तो यह मानता है कि मैंने होंठ हिलाये, होंठ कहते हैं न इसको? और मैंने कंठ हिलाया, कंठ काँपा। अरे.. भगवान! कंठ की पर्याय (तेरे से) काँपे? वह तो जड़ के कारण से है। क्या तेरी इच्छा के कारण से काँपता है? इच्छा आस्रव है, मलिन पर्याय है और यह तो भिन्न पर्याय है, कंठ का काँपना भिन्न है। यह तो एक प्रसंग देखकर बताते हैं। मिथ्यात्व का स्वरूप, पर को अपना मानने का कितने-कितने प्रसंग में होता है, ऐसा यहाँ खुलासा करते हैं। अलग-अलग प्रसंग-प्रसंग में कहाँ-कहाँ अपनी पर में मान्यता करता है यह बताते हैं। समझ में आया?

'**तथा अपने को गमनादि क्रिया की या वस्तु ग्रहणादिक की इच्छा होती है...**' देखो! गमन करने की इच्छा (हुई कि) चलो, बैठो, खड़े होओ, ऐसी क्रिया आदि माने। कोई '**वस्तु ग्रहणादिक की इच्छा...**' कोई वस्तु पकड़ने की (इच्छा)। '**तब अपने प्रदेशों को जैसे कार्य बने वैसे हिलाता है।**' वह कार्य पकड़ में आये... रोटी खाता हो, देखो! रोटी खाता हो न? रोटी, दाल, भात, सब्जी पड़े हो। रोटी को तोड़ने को हाथ ऐसा करे न? और दाल लेने को। जैसे दाल, रोटी आये ऐसे हाथ को बनाये। पानी पीना हो तो ऐसा करे न? कि ऐसा करे? ऐसा कर सकता है? परन्तु वह मानता है कि मैंने ऐसा किया और पानी लिया। अरे.. अरे..! वह कहते हैं, देखो! '**जैसे कार्य बने...**' जैसे वह कार्य (बने), यानी माने। जैसे इस प्रकार कार्य बनेगा तो मैं ऐसा बनाऊँ, हाथ ऐसा बनाऊँ, शरीर को ऐसा गमन कराऊँ, सोने में भी ऐसे सो जाऊँ, शरीर ऐसे पलटकर, ऐसी इच्छा (करता है)।

'**गमनादि क्रिया की या वस्तु ग्रहणादिक की इच्छा होती है तब अपने**

प्रदेशों को जैसे कार्य बने वैसे हिलाता है। वहाँ एकक्षेत्रावगाह के कारण शरीर के अंग हिलते हैं...' अँगूली चले, अँगूली चले, शरीर चले। ऐसे बैठे-बैठे पैर ऐसे-ऐसे करता है कि नहीं? '**हिलते हैं तब वह कार्य बनता है; अथवा अपनी इच्छा के बिना शरीर हिलता है तब अपने प्रदेश भी हिलते हैं;...**' दो की बात ली। स्वयं इच्छा करे और उसके कारण उन सब का गमनादि हो, उसको मानता है वह सब मेरे से होता है। '**और इच्छा के बिना शरीर हिलता है तब अपने प्रदेश भी हिलते हैं;...**' तब शरीर के कारण मेरे प्रदेश हिले, वह भी झूठ बात है। अपने प्रदेश अपने कारण से गति करते हैं। शरीर शरीर के कारण गति करता है। गिरा, फडाक से गिरा। आदमी गिर जाता है न? क्या करें भाई? मेरे आत्मा के प्रदेश भी शरीर के कारण ऐसा करना पड़ा। शरीर के कारण से हुआ है उसमें? अकस्मात होता है, टकराता है। नहीं, वह आत्मा का प्रदेश का कार्य अपना भिन्न है। और शरीर की पर्याय का कार्य भिन्न है। शरीर गिरा तो आत्मा को गिरना पड़ा ऐसा है नहीं। दोनों को एक मानकर, कोई भी प्रकार से दोनों के एक मानता है।

'**शरीर हिलता है तब अपने प्रदेश भी हिलते हैं; यह सब को एक मानकर ऐसा मानता है कि मैं गमनादि कार्य करता हूँ, मैं वस्तु का ग्रहण करता हूँ...**' देखो! मैं गमन करता हूँ, मैं शरीर को ऐसा सुलाता हूँ, पैर को हिलाता हूँ। इस प्रकार ... समझ में आया? '**अथवा मैंने किया है...**' गमनादि, ग्रहण आदि कार्य करता हूँ अथवा वह कार्य मैंने किया। शरीर की गमन की क्रिया, सोने की, बैठने की इत्यादि सब क्रिया तो जड़ की है। एक समय की जड़ की पर्याय ऐसे-ऐसे होती है, आत्मा से नहीं। शरीर की पर्याय ऐसे होती है, प्रदेश भी अपने में ऐसा किया, अपनी योग्यता से उपादान कारण से आत्मप्रदेश भी हिलते हैं। शरीर हिला इसलिये आत्मा का प्रदेश हिला, ऐसा है नहीं। लेकिन साथ में रहता है। शरीर चले और प्रदेश पीछे रह जाये, ऐसा नहीं होता? और प्रदेश चले और शरीर पीछे रह जाये। ऐसा बनता नहीं है, इसलिये दोनों (क्रिया) एक से होती है ऐसा मानता है। इसलिये दो का कार्य करनेवाला एक मैं हूँ, ऐसा मानता है। परन्तु वस्तु ऐसी है नहीं। समझ में आया? '**इत्यादिरूप मानता है।**' लो, वह शरीर तक लिया। अब कषायभाव की बात है।

(श्रोता :-- प्रमाण वचन गुरुदेव!)